



विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeth@gmail.com

Web : www.mvspujain.com

प्रतीक विधान और वैदिक कला

जयप्रकाश परिहार

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

प्रतीक विधान और वैदिक
कला

जयप्रकाश परिहार

पृष्ठ क्र. 3-4

वैदिकयुगीन पर्यावरण
चिंतन

गार्गी रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 5-6

उज्जैन का क्षत्रपवंश
और रूद्रदामन
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 7

भारत में यवनों का
सांस्कृतिक समन्वय
धीरेन्द्र कुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 8

किरातार्जुनीयम् भारवि
की गहन भाव सम्पदा
मिथिलेश यादव

प्रतीक कला की एक लिपि भाषा है जिसके माध्यम से अमूर्त भाव मूर्त रूप में अभिव्यक्ति पाता है। अमूर्त से मूर्त चिंतन की इस सांकेतिक भाषा प्रतीक का सृजन धर्म और दर्शन के चिंतन ने किया है। कला ने उसे रूपाकारों में प्रयुक्त करके उसके स्वरूप का सृजन किया है। धर्म और दर्शन का चिंतन प्रतीक की आत्मा है और कला द्वारा निर्मित रूप उसका शरीर। अतः वैदिक कला के ये प्रतीक उसी भाषा को उच्चारित करते हैं जिसका सृजन वैदिक ऋषियों ने किया है। इसीलिए हेनरिक जिमर का मानना है कि भारतीय प्रतीक उस पथ पर पथ प्रदर्शक चिन्ह है जिस पथ से दर्शन आगे बढ़ा है और कलाएँ भी इसी पथ से आगे बढ़ी हैं।

प्रतीकों का वैदिक साहित्य और कलाओं में अपरिमित कोश है। वैसे तो इस सृष्टि में जो कुछ भी देखते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब इस सृष्टि के रचयिता परमदेव के प्रतीक रूप है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, बिन्दु, वृत्त, रेखा, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि सभी कुछ उसी परमदेव के रचे शिल्प है और ये सब उसी के रूप और सत्ता की प्रतीति कराते हैं। ये सभी श्री, स्वस्ति, ओङ्क, चक्र, अग्नि, सोम, सूर्य, चंद्र, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि अन्य ज्यामितीय रचनाएँ, अश्वत्थ (वृक्ष), बेल, स्येन (पक्षी), अश्व (पशु) आदि के प्रतीक रूप वैदिक साहित्य और कला में अपना स्थान ग्रहण किये हुए हैं। कलाओं में प्रतीकों का स्थान महत्वपूर्ण इसलिए है कि उनमें व्यक्तिगत मूर्तभाव का अभाव होता है, यदि मूर्त भाव होता भी है तो वह कम से कम होता है, इसीलिए वह अमूर्त भाव की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति कर पाता है जबकि एक मूर्ति या चित्र अपनी सीमाओं के कारण केवल एक ही रूप की प्रस्तुति कर पाता है। एक ही मूर्त रूप में अनेक रूपों, भावों और अर्थों को उजागर करनेवाले सर्वरूपमय प्रतिरूप का प्रस्तुतीकरण उसके लिए संभव नहीं होता। वह मात्र प्रतीक के माध्यम से ही संभव है। डॉ. राधाकमल मुखर्जी के अनुसार प्रतीक, प्रतिमा और रूप, सभ्यता और समाज की आत्मा को उद्घाटित करने का कार्य इतने अच्छे प्रकार से करते हैं जितना धर्म, दर्शन और विज्ञान नहीं कर पाते। वैसे, धर्म, दर्शन और विज्ञान भी यही कार्य करते हैं लेकिन कला यह कार्य जिस कुशलता से करती है। उस कुशलता से कोई और नहीं कर पाता। यही कारण है कि मानव की कलात्मक भाषा ने शिल्प में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रतीकों को कल्पित किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार प्रतीक कला की भाषा की वर्णमातृका के समान है जो अर्थ की प्रतीति के लिए परमआवश्यक है। कला में प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष भाव, संकेत या प्रतीक अधिक गभीर अर्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं इसीलिए कहा गया है। परोक्षा प्रिय वै देवा प्रत्यक्षद्विष और यही वैदिक कला का नियामक सूत्र है। सूर्य, चर, पृथ्वी आदि जितने भी तत्व, पदार्थ या रूप हैं, वे सब संकेत या प्रतीक हैं। ये सृष्टि के रहस्य को प्रत्यक्ष रूपों की अपेक्षा कहीं अधिक गभीर अर्थों के परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए विश्व को जब वृक्ष या अश्वत्व कहा जाता है तब उसका अभिप्राय यह होता है कि अश्वत्व के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकास की व्याख्या समझी जा सके तथा यह प्रतीति की जा सके कि शक्ति का कोई महान् स्तंभ पृथ्वी से द्यौलोक तक वृक्ष या स्तंभ की भाँति ऊर्ध्व और स्तब्ध खड़ा है। प्रतीकों की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्य में मूर्धन्य स्थान रखता है। महर्षि अरविंद घोष के अनुसार वेद की समस्त भाषा प्रतीकमयी है, उसका दर्शन प्रतीक की भाषा में बात करता है। वैदिक साहित्य में प्रतीक का अर्थवाची पद केतु है। देव वहन्ति केतव अर्थात्, प्रतीक वह महान् देव का केतु है जिसने समग्र सृष्टि का सृजन किया है। प्रतीक ही वह महान् देव की प्राप्ति कराता है। प्रतीकों का विकास यज्ञों से हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्नि आर्य धर्म का सर्वप्रमुख प्रतीक है। जिसकी



अनेक प्रतीक रूपों में कल्पना की गयी है। यज्ञ स्वयं प्रजापति का प्रतीक है। यज्ञ-वेदि पर रखी स्वर्ण-पत्र पर उत्कीर्ण पुरुषाकृति प्रजापति की प्रतीक है। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला स्वर्ण-पत्र पर उत्कीर्ण यक सूर्य का प्रतीक है जो उसके आकार और उसकी गति का बोधक है। स्वास्तिक का प्रतीक सृष्टि की परिभ्रमण का सूचक बनकर उभरा है जिसका विकास स्वस्तिक के भाव चिंतन से हुआ है। इसके पीछे जीवन की समग्र उपलब्धियों का भावार्थ छिपा हुआ है। सम्वत्सर को अश्व रूप में वर्ष का प्रतीक माना गया है, सूर्य को उसके नेत्र, वायु को श्वास और उषा को उसका सिर बताया गया है। अनेक भौतिक पदार्थों जैसे, यूप, आयुध व दुंदुभि आदि को भी देवताओं के प्रतीक रूप में वर्णित किया गया है।

खिल्ल सूक्तों में देवी श्री का प्रतीक स्वर्णिम हिरण बताया गया है जिसमें जीवन के श्रेयवंत होने के भाव की अभिव्यंजना की गयी है। ऋग्वेद में अग्नि को पद्म का प्रतीक माना गया है। उसका जन्म पद्म से बताया गया है और इसी पद्म से आगे चलकर पद्मा देवी का विकास हुआ है। 'अ-उ-म' मात्राओं के त्रिगुणात्मक जगत् से अक्षरात्मक प्रतीक ऊ ने विकास पाया। उपनिषदों में शरीर के पंच कोशों को पक्षी और प्रणव (ऊ) को वृषभ, इंद्रियों को अश्व, मन को रथ का प्रतीक बताया गया है। ऋग्वेद के विश्वकर्मा प्रजापति का वह रूप जिसमें उन्हें चारों ओर चक्षु, मुख और पैर वाला बतलाया गया

है, उनकी समग्र सृष्टिगत व्याप्ति का प्रतीक रूप है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का सहस्र-शीर्षा, चक्षु और पद वाला परमपुरुष सृष्टि और समाज का प्रतीक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का जो सहस्राक्ष और सहस्र पाद वाला परमपुरुष हमारी अंतरात्मा हो कर हमारे शरीर में बैठा है तथा समस्त सृष्टि में व्याप्त है। सृष्टि के समग्र रूप की प्रतीकात्मक कल्पना है। इन्हीं प्रतीकपरक कल्पनाओं ने वेदोत्तर समाज में विराट-पुरुष और विष्णु की प्रतिमाओं का निर्माण किया है। पशु और पक्षियों की भी अनेक प्रतीक रूपों में कल्पना की गयी है। सवत्सर को अश्व के प्रतीक रूप में कल्पना की भाँति अग्नि की वृषभ रूप में कल्पना की गयी है जो आगे चलकर अग्नि की प्रतिमा के निर्माण की प्रेरणा बनी।

प्रतीकों में युग्मों की कल्पना भी की गयी है जिसमें धरती आकाश (द्यावा-पृथ्वी या द्यौ-अंतरिक्ष), रात्रि-दिवस, गौ-वृष आदि प्रमुख हैं। इन युग्मों में पारस्परिक सम्मिलन दर्शाया गया है और इनके मिथुन रूप प्रजनन के प्रतीक माने गये हैं। वृष शक्ति और संतति का प्रतीक है। इसलिए द्यौ को पशु-रूपीकरण कर वृष या लोहित वर्ण का वृष बताया गया है जो नीचे की ओर मुँह करके रभाता है, क्योंकि इसकी मादा गाय रूपी पृथ्वी नीचे है। सूर्य को चितकबरे रंग का वृष (गौ पृश्न) बताया गया है। इसी प्रकार कुद्ध स्वभाववाले मरुत देव को दौड़ते हुए वृषभ की तरह क्रोधी और हिंसक बताया गया है। उषा के मानवीकरण प्रतीक की भाँति राका कुहू, सिनीवाली का प्रतीकीकरण हुआ है।

वैदिक धर्म और दर्शन द्वारा दिये गये इन अनेक प्रतीकों का उपयोग कला ने अलंकरण के लिए किया और ये प्रतीक ही कला के अलंकार बने, जिनके उपयोग से अनेकानेक अभिप्रायों (मोटिफ), तंत्र (ज्यामितीय आलेखन) डायग्राम आदि डिजाइनों की रचना हुई। इन्हीं रचनाओं का उपयोग कर उपकरणों को सजाया गया, जिससे उनमें सौंदर्य की सृष्टि हुई और यही अलंकरण कला के महत्वपूर्ण उपादान बने। यही उपादान, आर्यों के अलंकारिक अभिप्राय (मोरिफ) डॉ. आनंद कुमारस्वामी के अनुसार, लोककला के रूप में आज तक सुरक्षित है। उनका मानना है कि आर्यों की प्रारंभिक कला अलंकारिक थी, जिसे अमूर्त और प्रतीकात्मक कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का भी यही मत है कि आर्यों ने जिन प्रतीकों का विकास किया, वह लोककला के रूप में आज भी अक्षुण्य हैं। अलंकारिक, अमूर्त और प्रतीकात्मक कला के सदर्थ में डॉ. मुल्कराज आनंद का मत है कि आर्यों की जो सौंदर्य अवधारणा थी, उसमें ऐसी ही कला उपयुक्त ठहरती है, जो अलंकारिक, अमूर्त और प्रतीकात्मक हो। इस प्रकार ये विद्वान वैदिक कला को अलंकारिक व प्रतीकात्मक मानते हुए प्रतीक के उपयोग की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। देवों के पशु रूपीकरण के प्रतीकात्मक वर्णन भी मूर्तिपरक हैं। मरुत या रुद्र देव की जिस वृषभ रूप में कल्पना की गयी है वही आगे चलकर शिव के रूप में विकसित हुई।

वैदिक युगीन पर्यावरण चिंतन

गार्गी रत्नपारखी

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को विशेष महत्व दिया गया है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में पर्यावरण के अनेक घटकों जैसे वृक्षों को पूज्य मानकर उन्हें पूजा जाता है। पीपल के वृक्ष को पवित्र माना जाता है। वट के वृक्ष की भी पूजा होती है। जल, वायु, अग्नि को भी देव मानकर उनकी पूजा की जाती है। समुद्र, नदी को भी पूजन करने योग्य माना गया है। गंगा, सिंधु, सरस्वती, यमुना, गोदावरी, नर्मदा जैसी नदियों को पवित्र मानकर पूजा की जाती है। धरती को भी माता का दर्जा दिया गया है।

प्राचीन काल से ही भारत में पर्यावरण के विविध स्वरूपों की पूजा होती है। पर्यावरण की रक्षा करने की एक समृद्ध प्राचीन परंपरा रही है, जिसके कारण भारत के लोग हर संभव तरीके से प्रकृति की पूजा करते हैं और उसे अपनाते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में वृक्ष, जल, पशु, भूमि का महत्वपूर्ण उल्लेख है। भारतीय ग्रंथ जैसे अर्थशास्त्र, शतपथ ब्राह्मण, वेद, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि हमें पर्यावरण संरक्षण और वन पारिस्थितिकी को बनाए रखने की अवधारणाओं को समझने में सक्षम बनाते हैं। चरक संहिता (900 ईसा

पूर्व में उत्पन्न चिकित्सा पुस्तक) पाठकों को शुद्ध पानी बनाए रखने और पीने के महत्व पर निर्देश देती है। अर्थशास्त्र में पेड़ों को काटने, पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने, जानवरों की हत्या करने के लिए विभिन्न दंडों का प्रावधान है जो न केवल आम नागरिकों और जनता के लिए बल्कि राजाओं के लिए भी बाध्य थे। उपनिषदों में जल, वायु, पृथ्वी और अंतरिक्ष का विशद वर्णन हुआ है। इसमें प्रकृति की महत्ता को पर्याप्त मान्यता प्रदान की गई है। पदार्थ की उत्पत्ति एवं जीव-जगत् की सृष्टि अग्नि जल और पृथ्वी के विनियोग से हुई है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् ने इस त्रिगुणात्मक प्रकृति की विवेचना की है। छांदोग्य उपनिषद् स्पष्ट करता है कि सात्विक ओर से परिष्कृत में का सीधा संबंध है। इसमें आगे और स्पष्ट करते हुए उल्लेख है कि पृथ्वी, जल और पुरुष सभी प्रकृति के घटक हैं। पृथ्वी का रस जल है और जल का रस औषध है। औषधियों का रस पुरुष है, पुरुष का रस वाणी, वाणी का ऋचा, ऋचा का साम और साम का रस उदगीथ हैं, अर्थात् पृथ्वी तत्व में ही सब तत्वों को प्राणवान बनाने के प्रमुख कारण है। रामायणकाल में

भी पर्यावरण चेतना पर्याप्त सक्रिय थी। वाल्मीकि रामायण में राम के वन गमन के समय प्रकृति के मनोरम दृश्य का उल्लेख किया गया है— इस समय पर्वत प्रदेश, घन जंगल एवं रम्य नदियों के किनारे सारस और चक्रवाक पक्षी आनंद में विचर रहे थे। सुंदर जलाशय में कमल दल खिले हुए थे। जंगलों में झुंड के झुंड हिरन, गैंडे वाराह और हाथी निर्भय घूम रहे थे अर्थात् उन दिनों पर्यावरण अत्यंत समृद्ध था। इस काल का चित्रण करने वाले महाकवि भवभूति ने भी प्रकृति का अत्यंत हृदयग्राही



चित्रण करते हुए लिखा है कि वनों में सिद्ध तपस्वियों के आश्रम हरियाली से भरापूर थे। वहाँ स्वच्छंद विचरण करते हिरण शावक इन प्राकृतिक आवासों की शोभा बहुगुणित कर देते थे। रामायण कालीन ग्रंथों में प्रकृति को सजीव व निर्जीव दोनों ही तत्वों से चेतना संपन्न बताया गया है। रामचरितमानस के उत्तरकांड में वर्णन मिलता है कि चरागाह तालाब, हरित भूमि, वन उपवन के सभी जीव आनंद पूर्वक रहते थे।

इसी तरह महाभारतकालीन मनीषियों ने भी पर्यावरण की गौरव गरिमा को महिमा मंडित किया है। इस काल में भगवान् कृष्ण द्वारा गाई गीता में प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण बताया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं, प्रकृति के कण-कण में सृष्टि का रचयिता समाया हुआ है। प्रकृति के समस्त चमत्कारों को परमेश्वर का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके सभी भूत-प्राणियों को धारण करता हूँ। चंद्रमा बनकर औषधियों का पोषण करता हूँ। महाभारतकाल में प्रत्येक तत्व को देवता सदृश स्वीकार कर उनकी अभ्यर्थना की जाती थी। उन दिनों वृक्षों की पूजा का प्रचलन था। वृक्षों को

काटना महापाप समझा जाता था। महाभारत के आदिपर्व में वर्णन है कि गाँव में जो जगह पेड़ फूल और फलों से भरपूर हो वह स्थान हर तरह से अर्चनीय है। इसमें प्रकृति का अनेक उपमाओं से अलंकृत किया गया है। पवित्र और शीतल जलाशय तथा जंगल, पहाड़ व पर्वतों आदि को प्रकृति व पर्यावरण के अद्भुत प्रसंगों से महाभारत के सभी पर्व भरे पड़े हैं। महाकवि कालिदास ने भी अपने नाटकों एवं काव्यों में पशु-पक्षी वृक्षादि से मानवीय जीवन का अपूर्व संबंध स्थापित किया है। अभिज्ञान शाकुंतलम् ने तो इन रिश्तों व संबंधों को सजीव कर दिया है। कण्व आश्रम में पत्नी बड़ी शकुंतला अपने चारों ओर के परिवेश एवं वातावरण से इतना एकात्म एवं तदाकार हो गई थी कि उसका विछोह सभी को विह्वल कर रहा था। उसकी विदाई के समय पशु पक्षी ही नहीं वनस्पति जगत् भी उदास हो गया था। वैदिक वांगमय में दर्शन भी पर्यावरण की चिंतन चेतना से ओतप्रोत रहे हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के समन्वय को सृष्टि का कारण माना है। प्रकृति जड़ एवं स्थूल होते हुए भी अति सूक्ष्म है। अतः प्रकृति समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का प्रमुख कारण है। चूँकि प्रकृति को यहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म दर्शाया है, इसलिए इसमें पर्यावरण अनायास ही जीवंत हो उठा है।

न्यायदर्शन में ईश्वर एवं जीव के साथ प्रकृति भी महत्वपूर्ण घटक है। वैदिक एवं दार्शनिक साहित्य की ही भाँति पुराणों में भी पर्यावरण के घटकों को पूजनीय माना गया है। प्रकृति के इन घटकों में देवत्व का भाव भी दर्शाया गया है। यहाँ मिट्टी प्रस्तर के पहाड़ को देवात्मा हिमालय बताया है तो नदियों को देवी का पर्याय माना है, जिसमें पुण्यतोया गंगा का स्वरूप तो अवर्णनीय है। पुराणों के अनुसार ईश्वर संसार के कल्याणार्थ कभी मत्स्य का आकार ग्रहण करते हैं तो कभी कछुआ, हंस बनकर इनकी महत्ता प्रतिपादित करते हैं। सिंह और वाराह के रूप में आकर सभी जीवों की श्रेष्ठता घोषित करते हैं। इसी लिए भारतीय संस्कृति में सभी जड़-चेतन का दिव्य माना है। पुराणों की रचना का आधार भी सृष्टि के तत्वों को लेकर बना है। अनेक पुराणों का नामकरण भी इन तत्वों के नामों को लेकर हुआ है। अग्निपुराण, वायुपुराण आदि में यही भाव दिखाई देता है। इन सभी पुराणों में दिव्य प्रकृति का सहज वास है।

ब्रह्मपुराण में गंगाजल की विशेषता खासतौर पर परिलक्षित होती है। वृक्ष मानवमात्र के लिए सतत् प्राणदायक वायु का संचार करते हैं। यही वजह है कि भारतीय ऋषियों महर्षियों ने वृक्षों के प्रति अगाध अनुराग भावना प्रदर्शित की है। यहाँ पर वृक्ष पूजा का प्रचलन अति प्राचीन है। देवदार को देवताओं का प्रिय वृक्ष कहा जाता है। तुलसी को वायु के शोधन एवं पवित्रता के लिए हर आंगन में रोपने की प्रथा है। पौराणिक मान्यता के अनुरूप ही अपने यहाँ पीपल, पलाश, नीम, अशोक, बरगद, कदंब, आंवला आदि अनेक वृक्षों को देवता के सदृश पूजा जाता है। प्राचीनकाल में तो वृक्षों के साथ वनों की भी पूजा होती थी। इसीलिए मधुवन, वृहदवन, बहुलवन, कुमुदवन, श्रीवन, नंदनवन आदि वनों का वर्णन मिलता है। इन

सभी उपक्रमों एवं प्रयासों के पीछे पर्यावरण को संरक्षित करने की विशेषता ही झलकती है।

पुराणों का समय वेदकाल से प्रारम्भ होकर सोलहवीं शताब्दी के अंतिम कालखंड तक माना गया है। इतनी लंबी अवधि में भी पर्यावरण के प्रति पर्याप्त सजगता एवं जागरुकता का रुझान मिलता है। इसके अलावा इतिहास के पृष्ठों में दबे तमाम तथ्यों का उभारने पर पता चलता है कि इन दिनों भी पर्यावरण को कानूनी संरक्षण प्राप्त था। सिंधु सभ्यता के युग में द्रविड़ों की जीवनशैली ने पर्यावरण प्रेम को दर्शाया है। वे विशेष रूप से वृक्ष पूजा करते थे। द्रविड़ों के द्वारा प्रारम्भ की गई यह प्रक्रिया एवं परंपरा बाद में भी जीवित रही। चंद्रगुप्त मौर्य के समय वन की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अभ्यारण्यों की पांच श्रेणियां होती थी। सम्राट अशोक के शासनकाल में सर्वप्रथम वन्य जीवों के संरक्षण हेतु नियम बनाए गए थे। इसके पश्चात् भी यह सिलसिला चलता रहा। वृक्षों की तरह ही पशु-पक्षियों की सुरक्षा की भावना भी भारतीय चिन्तन परम्परा में युगों-युगों से निहित है। यही कारण है कि हिंसक एवं अहिंसक तथा विषधर जीव जन्तुओं को भी किसी न किसी देवता का वाहन बनाकर इनकी श्रेष्ठता प्रदान करते हुए इनकी सुरक्षा एवं संरक्षण का प्रावधान किया गया है। यही कारण है कि इन पशु-पक्षियों की भी पूजा का विधान बनाया गया है। गाय एवं बैल तो भारतीय संस्कृति की पहचान है। बाघ, शेर, चीता, हाथी, चूहा, गरुण, सर्प, कच्छप, हंस, उल्लू और आदि छोटे एवं बड़े हिंसक एवं अहिंसक सभी जीव-जन्तुओं का संबंध देवी देवताओं से उनके वाहन के रूप में जोड़कर उन्हें सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने की जो उदात्त भावना भारतीय चिन्तन परम्परा में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। जैन एवं बौद्ध साहित्य में वन यात्राओं एवं वृक्ष महोत्सवों का मनोहर विवरण प्रस्तुत है, जो वन वृक्षों एवं पशु-पक्षियों के संरक्षण की उदात्त भावना से ही प्रेरित है। गौतम बुद्ध को भी पीपल के वृक्ष के नीचे ही ज्ञान प्राप्त हुआ था, तभी से उसे बोधिवृक्ष कहा जाता है। सुंग कुषाणकला में बोधिवृक्ष की पूजा का सुन्दर चित्रण मिलता है। पर्यावरण संरक्षण में यज्ञ भी अहम् भूमिका निभाता है और भारत में शयज्ञ करने की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से ही रही है। हम जानते हैं कि यज्ञ में जो हवन किया जाता है, उसमें औषधीय पदार्थों का ही प्रयोग किया जाता है, जिसका धुँआ वातावरण में व्याप्त होकर पर्यावरण को शुद्ध करने में अहम भूमिका निभाता है। इन औषधियों के साथ घी आदि के धूम वायुमण्डल को संक्रमण मुक्त करते हैं। इससे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश की शुद्धि होती है, जिससे मनुष्य की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है। यज्ञ के दौरान आग में जो घी डाला जाता है, वह समाप्त नहीं होता, अपितु परमाणुओं के रूप में आस-पास के वातावरण में फैला जाता है। हवन में जो कुछ भी डाला जाता है, वह परमाणुओं में टूटकर सम्पूर्ण वायुमण्डल को शुद्ध कर देता है।

उज्जैन का क्षत्रपवंश और रुद्रदामन

रितु मिश्र

भारत में आकर बसने वाले जिन अभातीय शासकों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विलयित कर दिया था। उनमें शकों के क्षत्रप वंश का नाम उल्लेखनीय है। यूनानियों के बाद और कुषाणों से पूर्व भारत के अनेक अंचलों में कई नये राजवंशों का उदय हुआ। उनमें दक्षिण के पार्थव (पहलव), पश्चिमोत्तर के क्षत्रप मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रपों का नाम उल्लेखनीय है। इन नवोदित राजवंशों में उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है। विदेश से आये शकों के इस यशस्वी राजकुल ने मध्य-पश्चिम भारत पर लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक शासन किया।

उज्जैन के क्षत्रपवंश का प्रथम शासक होने का श्रेय यसामोतिक के पुत्र चष्टन को है, जो कि 130 ई. में सिंहासन पर बैठा। उसी ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था। चष्टन बड़ा शक्तिशाली शासक था। निरन्तर विपदाओं और चिन्ताओं से घिरे रहने पर भी वह उज्जैन पर अपना अस्तित्व बनाये रहा। जयदामन उसका उत्तराधिकारी था। अपने पिता की भाँति वह भी युद्धों से घिरा रहा और किसी भी मौलिक तथा रचनात्मक कार्यों के निर्माण में सफल नहीं हो सका। जयदामन के बाद उसका पुत्र रुद्रदामन गद्दी पर बैठा। भारत के इतिहास में रुद्रदामन का कई दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। उसके यशस्वी व्यक्तित्व और बल विक्रम का वर्णन जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर उत्कीर्ण अभिलेख में सुरक्षित है (एपि. इंडि., 8, पृ. 36-46)। समस्त भारतीय अभिलेख साहित्य में संस्कृत की यह प्रथम गद्यमयी प्रशस्ति है, जिसको शक सम्बत् 72 (150 ई.) में अंकित किया गया है। यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिए सर्वथा सुयोग्य शासक के रूप में रुद्रदामन को अपना महाक्षत्रप नियुक्त किया था। रुद्रदामन ने भी जनता के विश्वासों के अनुरूप अपनी योग्यता और शक्ति का परिचय दिया। उसके पितामह चष्टन के समय सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्णिक ने क्षत्रपों के राज्य के जिन भागों को स्वायत्त किया था। रुद्रदामन ने उन पर पुनः अपना अधिकार किया। उक्त अभिलेख

से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन ने दक्षिणाधिपति सातवाहन सातकर्णिक को युद्ध में पराजित किया था। बाद में सातवाहन पुलोमावि से अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कर उसने तत्कालीन भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य से अपने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था। रुद्रदामन एक धार्मिक और प्रजावत्सल शासक था। प्रजा की सुख-शान्ति का उसे सदा ध्यान रहता था। उसने भारत के महान सम्राटों की शासन प्रणाली को वरण किया था। उसके सुशासन में बेगारी (विष्टिः) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। ताकि प्रजा का अनावश्यक शोषण समाप्त हो। उसने सुदर्शन झील के बोध का पुनर्निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने काठियावाड़ में निरनार पर्वत के नीचे एक विशाल झील का निर्माण तथा उस पर एक बौध्द बंधवाया था। रुद्रदामन ने गिरनार अभिलेख में इस झील का, जिसका नाम सुदर्शन सेतुबन्ध रखा गया था, उल्लेख है। रुद्रदामन ने उसको चिरस्थायी बनाने हेतु उस पर तीन हिस्सों का बाँध बनाया था। एक शक्तिशाली सुशासक होने के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामन विद्वान् तथा विद्यानुरागी भी था। ज्योतिष, व्याकरणशास्त्र, न्याय-दर्शन तथा संगीत का वह अचा जाता था। रुद्रदामन के बाद भी उज्जैन के क्षत्रपों का राजवंश लगभग दो सौ वर्षों तक शासनारूढ़ रहा, किन्तु इन वर्षों का इतिहास अन्धकारमय है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों का यह वंश किसी न किसी रूप में गुप्तकाल के आस-पास तक चलता रहा। बाण के हर्षचरित और विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त का शकराज, जिसे कुमारावस्था में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375-414 ई.) ने मार डाला था। सम्भवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय था। जिसके अनेक सिक्के भी उपलब्ध हैं। उज्जैन, महाराष्ट्र और मथुरा के शकों का सर्वथा उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकारि का वीरुध धारण किया था। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में शक क्षत्रपों का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि विदेशी होते हुए भी उन्होंने स्वयं को भारतीय संस्कृति में सर्वथा विलयित कर दिया था। अपने विवाह सम्बन्धों को क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों से स्थापित कर उन्होंने अपनी समन्वयवादी, सहिष्णु एवं उदार नीति का परिचय दिया। उन्होंने अपने नामों का भारतीयकरण किया और ब्राह्मण जैन तथा बौद्ध धर्मों के



आदर्शों को ग्रहणकर उनके देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपनाया। भारतीय शासकों की ही भाँति उन्होंने अनेक चौत्यों, गुफाओं तथा मन्दिरों का निर्माणकर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। उदार और सहिष्णु होने के साथ-साथ वे दानी भी थे। ब्राह्मणों को प्रचुर दान देकर वे भारतीय इतिहास के अभिन्न अंग बन गये। इस दृष्टि से शक शासक उषवदास और ऋभषदत्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नासिक से प्राप्त एक गुफालेख (19-125 ई.) से ज्ञात होता है कि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को वरण कर लिया था और वे हिन्दू देवताओं की पूजा प्रतिष्ठा करने लग गये थे। ऋभषदत्त ने बौद्ध सध को एक गुफा का दान किया। अभिलेख में उसे तीन लाख गायों के दानदाता (त्रि गोशतसहस्रदा) की उपाधि से विभूषित किया गया है। विदेशियों के भारतीयता वरण करने की यह परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। समय-समय पर शासनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रयोजनों से भारत आये विदेशियों ने भारतीय धर्म को वरण करने में गौरव का अनुभव किया। बेसनगर के गरुड-स्तम्भ पर उत्कीर्णित अभिलेख से ज्ञात होता है कि अन्तिकिलित के राजदूत हेलियोदोरस ने परम भागवत की उपाधि धारण की थी। महाराज मेनाडर तो बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था। कुषाणराज बीम कदफिसस माहेश्वर उपाधि से युक्त शैवमत का अनुयायी हो गया था। कनिष्क भी भारतीयता का अभिन्न अंग बन चुका था। विदेशियों के आर्थिकरण या भारतीयकरण का यह अभियान वस्तुतः वैदिक युग से ही प्रचलित हो गया था। स्मृतिकारों ने भी उसे धर्मसम्मत मान लिया था। और उसके लिए नियम बना दिया था। मनुस्मृति (1067) में मिश्रित या सकर जातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे अपने गुण, कर्म के अनुसार आर्य बन सकते हैं। यह नियम वस्तुतः बाहरी जातियों के आर्य महासंघ में सम्मिलित होने के उद्देश्य से बनाया गया था। इससे पूर्व महाभारतकार (65.513) ने यवनों किरातों, गन्धारों, तुषारों और पहलवों को वैदिक संस्कारों का वरण करने तथा वैदिकों की पूजा विधियों में सम्मिलित होने का विधान कर दिया था। इसी आधार पर मनुस्मृतिकार ने आपद्धर्म के अन्तर्गत आर्गीकरण के लिए उक्त अधिनियम की स्वतन्त्र व्यवस्था कर दी थी।

आर्थिकरण या भारतीयकरण के इस अभियान के फलस्वरूप जिन शक शासकों ने अपने नामों में परिवर्तनकर भारतीयता को वरण किया उनमें घटक, रुद्रदामन, राजुल, षोडास, शिवघोष शिवदत्त, रुद्रसेन और विजयसेन का नाम उल्लेखनीय है। उनकी इस उदारता एवं उनके भारतीय अनुराग के कारण भारत के ब्राह्मण बौद्ध और जैन-सभी वर्गों, सम्प्रदायों के समाज ने उनको ससम्मान ग्रहण किया। शकों की आचार-पद्धति रहन-सहन और शासन व्यवस्था सभी में भारत की परम्पराएँ निहित थीं। उनका संस्कृतानुराग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रुद्रदामन की प्रशस्त संस्कृत गद्य की एक अनुपम कृति है। अपने समसामयिक एवं पड़ोसी सातवाहनों के प्राकृतानुराग के विपरीत शकों ने संस्कृत को अपने शासनकाल

में सम्मानित स्थान दिया। दक्षिण-पश्चिम के क्षत्रप शासकों में रुद्रदामन का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इन शासकों के वैदेशिक होने में संदेह नहीं है, पर 'रुद्रदामन', 'रुद्रसेन', 'विजयसेन' आदि नामों से प्रतीत होता है कि वे पूर्णतया भारतीय बन गए थे। इसकी पुष्टि उन लेखों से होती है जिनमें इनके द्वारा दिए गए दानों का उल्लेख है। जूनागढ़ के लेख से यह विदित होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिए रुद्रदामन को महाक्षत्रप पद पर आसीन किया। यह संभव है कि शातकर्णि राजा गोतमीपुत्र के आक्रमण से शकों को बड़ी क्षति पहुँची और वंश की प्रतिष्ठा को उठाने के लिए यह प्रयास किया गया हो। रुद्रदामन ने जनता के अपने प्रति विश्वास का पूर्ण परिचय दिया, जैसा उक्त लेख में उसकी विजयों से प्रतीत होता है। उसने अपने पितामह चष्टन के साथ संयुक्त रूप से राज्य किया था। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शक, यवन तथा पहलवों को हराया था तथा क्षहरातवंश का उन्मूलन किया था। चष्टन ने क्षति की पूर्ति के लिए मालवों पर विजय प्राप्त की और उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। उसने दो बार दक्षिणपति शातकर्णि को पराजित किया पर निकट संबंधी होने के कारण उसका नाश नहीं किया। इस शासक की समानता वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णि पुत्र पुलुमाइ से की गई है। इसकी सम्राज्ञी, कणेहरी से प्राप्त एक लेख के अनुसार, महक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामन) की पुत्री थी। रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख में रुद्रदामन के चौधेयों के साथ युत्र का भी उल्लेख है पर उनके नष्ट होने का प्रमाण नहीं मिलता। इस लेख में इस शासक के प्रशासक कार्यों का भी विवरण है। चन्द्रगुप्त मौर्यकालीन सुदर्शन झील का बाँध भीषण वर्षा के कारण टूट जाने का भी उल्लेख है। रुद्रदामन के समय में इसकी मरम्मत हुई थी। अपने मंत्रियों के विरोध के बावजूद रुद्रदामन ने अपनी प्रजा के लिए अपने निजी कोष में से भारी धन व्यय करके सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करवाया था। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और वह विभिन्न विज्ञान, व्याकरण, न्याय, संगीत इत्यादि में पारंगत भी था। कोंकण, नर्मदा घाटी, काठियावाड़, गुजरात के अन्य क्षेत्र और मालवा राजा रुद्रदामन के साम्राज्य का हिस्सा थे। विजयों के माध्यम से, उसने पुणे और नासिक को छोड़कर उस अधिकांश क्षेत्र को पुनः प्राप्त कर लिया जो पहले नहपान का था। राजा बनने के बाद उन्होंने महा-क्षत्रप या महान् क्षत्रप की उपाधि धारण की। गिरनार शिलालेख के अनुसार, रुद्रदामन ने वर्तमान हरियाणा में यौधेय जनजातियों को परास्त किया। वह यौधेय को एक उग्रवादी क्षत्रिय गणराज्य के रूप में वर्णित करता है जिसने उसके सामने झुकने के बजाय उससे युद्ध किया। रुद्रदामन ने बलपूर्वक यौधेयों को नष्ट कर दिया, जो समर्पण करने के लिए अनिच्छुक थे, उन्होंने सभी क्षत्रियों के बीच वीरों की उपाधि प्रकट करके उन्हें गौरवान्वित किया। यौधेय ने खुद को स्वतंत्र शासकों के रूप में फिर से स्थापित किया और जल्द ही शक्तिशाली बन गए। उन पर कुषाण साम्राज्य ने विजय प्राप्त की और अंततः गुप्त साम्राज्य ने उन्हें अपने अधीन कर लिया।

भारत में यवनों का सांस्कृतिक समन्वय

धीरेंद्र कुमार शर्मा

भारत में यवन संस्कृति का प्रभाव अनेक रूपों में प्रसारित हुआ। उसका सर्व प्रथम प्रभाव भारतीय सिक्कों पर परिलक्षित हुआ। यवनों की सुरुचि के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम भारत में अपूर्व कलात्मक सिक्कों का प्रचलन हुआ। भारत-यवन सांस्कृतिक समन्वय से अनेक क्षेत्रों में सर्वथा नये रचना प्रकार प्रकाश में आये जिन्होंने आगे की अनेक पीढ़ियों पर अपने प्रभाव की गहरी छाप अंकित की। भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर वास्तुकला और तक्षणकला के क्षेत्र में जो नमूने प्राप्त हुए हैं। उनमें ई.पू. प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्ञान, कला केन्द्र तक्षशिला में निर्मित एक देवमन्दिर के ऊँचे यवन स्तम्भ और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई.पू. प्रथम शती में उदित गान्धार शैली भारतीय यवन कला समन्वय की ज्वलन्त प्रकाश किरण है। जिसके कारण भारतीय कला के इतिहास को नया आलोक मिला। भारतीय कलाकारों ने गान्धार शैली के नये-नये प्रयोग करके ऐसी अमर कला कृतियों का निर्माण किया। जिनका महत्व सदियों बाद आज भी बना हुआ है। इस प्रकार के विभिन्न कला केन्द्रों में सुरक्षित तथागत बुद्ध की भव्य विशाल प्रतिमाओं में लाहौर, पेशावर और शिमला संग्रहालयों की प्रतिमाओं का नाम उल्लेख्य है। इस प्रकार भारत में यूनानियों और ईरानियों के प्रवेश से कला और संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित ही नये मान मूल्यों की स्थापना हुई और नयी प्रेरणाप्रद एवं उन्नत, परिष्कृत शिल्प-विधियों का विकास हुआ। किन्तु जहाँ तक धर्म, दर्शन और साहित्य का सम्बन्ध है भारत में उनकी परम्परा इतनी उन्नत, सम्पन्न और स्थायी थी कि यवन संस्कृति उससे प्रभावित हुए बिना न रही। यहाँ के आध्यात्मिक मान मूल्यों, चिन्तन पद्धति और महान् विचारों ने यवनों के भौतिकवाद को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में यवनों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। इसी कारण गार्गी संहिता में ज्योतिर्विद्या के प्रवर्तक होने के कारण यवनों को देवताओं के समान वन्दनीय कहा गया है। यवनों का यह प्रभाव विशेष रूप से गणित और गौण रूप से फलित ज्योतिष के क्षेत्र में चरितार्थ हुआ। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों ने इसको अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया है। सूर्यसिद्धान्त के स्वोपज्ञ अनुवाद की भूमिका में हिटनी साहब का अभिमत है कि ईस्वी सन् के आरम्भ में रोम के व्यापारिक बन्दरगाहों का भारत के पश्चिमी तट से व्यापार होता था। भारतीय तथा यवन गणितज्ञों ने लम्बे समय तक एक साथ बैठकर दोनों देशों के परम्परागत ज्योतिर्विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके समन्वय से कुछ नये सिद्धान्तों का आविष्कार किया। इसी सामंजस्य के फलस्वरूप भारतीय ज्योतिष में ग्रीक ज्योतिष के आधार पर नये लाक्षणिक शब्दों का समावेश हुआ और कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की स्थापना

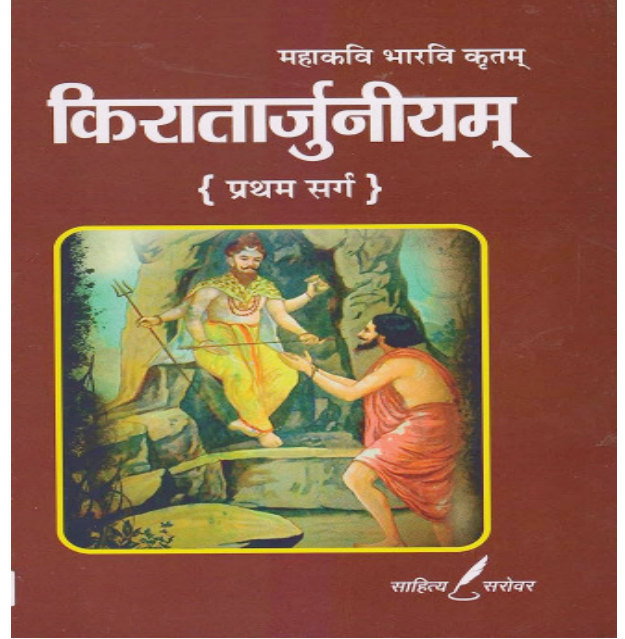
हुई। फिर भी यह स्वीकार करने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है कि भारतीय ज्योतिष के होडाचाझ पर ग्रीक ज्योतिष के होरस्कोपस का प्रभाव है। इसी प्रकार भारतीय ज्योतिष का जामिवलग्न ग्रीकों के दायामेत्रान पर आधारित है। नक्षत्र-विज्ञान की जानकारी भारत को चीकों से प्राप्त हुई। भारतीय रोमक और पोलिश सिद्धान्त पीक ज्योतिष की देन है। फलादेश में भविष्य फल बताने के मैज्ञानिक प्रयोग पर यवनों का प्रभाव है। आचार्य कल्याण वर्मा (577 ई.) कृत यवन-होराशास्त्र का संकलन गन्ध सारावली इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। नीलकण्ठ दैवज्ञ की नीलकण्ठी (16वीं शती) पर भी अरबी-फारसी ज्योतिष का स्पष्ट प्रभाव है। भारतीय ग्रीक ज्योतिष के आदान-प्रदान के फलस्वरूप जहाँ एक ओर भारतीय ज्योतिष में नये सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हुई वहीं दूसरी ओर ग्रीक ज्योतिष को भी भारतीय ज्योतिष ने प्रभावित किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त (598 ई.) के ब्रह्मरफुट सिद्धान्त और खण्डखाद्यक ग्रन्थों का अरब ज्योतिष पर व्यापक एवं स्थायी प्रभाव पड़ा। अरब में उनका अनुवाद हुआ और क्रमशः वे असितहिन्द तथा अलअर्कन्द के नाम से प्रचलित हुए। यह आदान-प्रदान भारत में यवनों के सुशासन का ही सूचक नहीं, वरन सांस्कृतिक एकता का भी द्योतक है। ग्रीक शासकों की सफलता एवं अविस्मरणीय विशेषता का परिचायक उनका भारतीयता के प्रति गहन अनुराग था। उन्होंने भारतीय धर्म को वरणकर वहाँ की भाषाओं के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की। उनके उत्तर-पश्चिम में जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उन पर यवन भाषा के साथ-साथ भारतीय भाषाओं का भी प्रयोग किया गया है किन्तु पूर्व-मध्य में जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं, उनमें केवल भारतीय भाषाओं का ही प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के अभिलेख मथुरा तथा बुंदेलखंड से प्राप्त हुए हैं। भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहारों को ग्रहणकर यवन शासकों ने अपनी सहज सहिष्णुता और देशभक्ति का परिचय दिया। यह एक विचित्र संयोग था कि इन यवनों के साथ भारतीयों का राजनीति एवं शासन की अपेक्षा विचारों और कला, संस्कृति की दृष्टि से घनिष्ठ और चिरस्थायी सम्बन्ध रहा। मेनांडर जैसे धर्मप्राण शासक ने अनेक बौद्धविहारों का निर्माण कराया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा दी और कलाकारों को सम्मानित, प्रोत्साहित किया। वह स्वयं भी भारतीय संस्कारों एवं विचारों में घुल-मिल गया था। भारत पर ग्रीक सामरिकों के निरन्तर कई आक्रमण हुए। सबसे पहला आक्रमण मकदूनिया के महान् विजेता सिकन्दर में 326 ई.पू. के लगभग किया था। दूसरा आक्रमण सेल्यूकस द्वारा 306 ई.पू. में हुआ। इसी प्रकार तीसरा आक्रमण अन्तियोकस तृतीय ने 306 ई.पू. में किया। बाद के शक्तिशाली आक्रान्ताओं में बाजी के दिमित (डेमिट्रियस), युक्रैतिद और मैनांदर नामक तीन विजेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

किरातार्जुनीयम् भारवि की गहन भाव सम्पदा

किरातार्जुनीयम् (किरात और अर्जुन की कथा) महाकवि भारवि द्वारा सातवीं शती ई. में रचित महाकाव्य है जिसे संस्कृत साहित्य के वृहत्तरयी (किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितम्) में स्थान प्राप्त है। महाभारत में वर्णित किरात वेशधारी शिव के साथ अर्जुन के युद्ध की लघुकथा को आधार बनाकर कवि ने राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, समाजनीति, युद्धनीति, जनजीवन आदि का मनोरम वर्णन किया है। यह काव्य विभिन्न रसों से ओतप्रोत रचना है किन्तु वीर रस प्रधान है। किरातार्जुनीयम् भारवि की एकमात्र उपलब्ध कृति है, जिसने एक सांगोपांग महाकाव्य का मार्ग प्रशस्त किया। माघ-जैसे कवियों ने उसी का अनुगमन करते हुए संस्कृत साहित्य भण्डार को इस विधा से समृद्ध किया और इसे नई ऊँचाई प्रदान की। कालिदास की लघुत्रयी और अश्वघोष के बुद्धचरितम् में महाकाव्य की जिस धारा का दर्शन होता है, अपने विशिष्ट गुणों के होते हुए भी उसमें वह विशदता और समग्रता नहीं है, जिसका सूत्रपात भारवि ने किया। राजनीति और व्यवहार-नीति में भारवि के विशेष रुझान के चलते यह युक्तियुक्त ही था कि वे किरातार्जुनीयम् का कथानक महाभारत से उठाते। उन्होंने वनपर्व के पाँच अध्यायों से पांडवों के वनवास के समय अमोघ अस्त्र के लिए अर्जुन द्वारा की गई शिव की घोर तपस्या के फलस्वरूप पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के छोटे से प्रसंग को उठाकर उसे अठारह सर्गों के इस महाकाव्य का रूप दे दिया। जब युधिष्ठिर कौरवों के साथ संपन्न द्यूतक्रीड़ा में सब कुछ हार गये तो उन्हें अपने भाइयों एवं द्रौपदी के साथ तेरह वर्ष के वनवास पर जाना पड़ा। उनका अधिकांश समय द्वैतवन में बीता। वनवास के कष्टों से खिन्न होकर और कौरवों द्वारा की गयी साजिश को याद करके द्रौपदी युधिष्ठिर को अक्सर प्रेरित करती थीं कि वे युद्ध की तैयारी करें और युद्ध के माध्यम से कौरवों से अपना राजपाठ वापस लें। भीम भी द्रौपदी की बातों का पक्ष लेते हैं।

गुप्तचर के रूप में हस्तिनापुर भेजे गए एक वनेचर (वनवासी) से सूचना मिलती है कि दुर्योधन अपने सम्मिलित राज्य के सर्वांगीण विकास और सुदृढ़ीकरण में दत्तचित्त है, क्योंकि कपट-द्यूत से हस्तगत किए गए आधे राज्य के लिए उसे पांडवों से आशंका है। पांडवों को भी लगता है कि वनवास की अवधि समाप्त होने पर उनका आधा राज्य बिना युद्ध के वापस नहीं मिलेगा। द्रौपदी और भीम युधिष्ठिर को वनवास की अवधि समाप्त होने की प्रतीक्षा न कर दुर्योधन पर तुरंत आक्रमण के लिए उकसाते हैं, लेकिन आदर्शवादी, क्षमाशील युधिष्ठिर व्यवहार की मर्यादा लाँघने को तैयार नहीं। उधर आ निकले



व्यास सलाह देते हैं कि भविष्य के युद्ध के लिए पांडवों को अभी से शक्ति संवर्धन करना चाहिए। उन्हीं के द्वारा बताए गए उपाय के अनुसार अर्जुन शस्त्रास्त्र के लिए इन्द्र (अपने औरस पिता) को तप से प्रसन्न करने के लिए एक यक्ष के मार्गदर्शन में हिमालय-स्थित इन्द्रकील पर्वत की ओर चल पड़ते हैं। वहाँ एक आश्रम बनाकर की गई तपस्या के फलस्वरूप अप्सराओं आदि को भेजकर परीक्षा लेने के बाद इंद्र एक वृद्ध मुनि के वेष में उपस्थित होते हैं और तपस्या के नाशवान लौकिक लक्ष्य को निःसार बताते हुए परमार्थ की महत्ता का निदर्शन करते हैं। अर्जुन इसकी काट में कौरवों द्वारा किए गए छल एवं अन्याय का लेखा-जोखा प्रस्तुतकर शत्रु से प्रतिशोध लेने की अनिवार्यता, सामाजिक कर्तव्य पालन तथा अन्याय के प्रतिकार का तर्क देकर इंद्र को संतुष्ट कर देते हैं। फलस्वरूप इंद्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर अर्जुन को मनोरथ-पूर्ति के लिए शिव की तपस्या करने की सलाह देते हैं। अर्जुन फिर से घोर, निराहार तपस्या में लीन हो जाते हैं। अर्जुन इंद्रकील के लिए एक अजनबी तपस्वी है, जटा, वल्कल और मृगचर्म तो उसके पास हैं लेकिन साथ ही शरीर में कवच भी है, यज्ञोपवीत की जगह प्रत्यंचा-समेत गांडीव धनुष है, दो विशाल तरकस हैं और एक उत्तम खड्ग भी। उसे मुनिधर्म-विरोधी समझकर वहाँ के अन्य तपस्वी आतंकित हैं और शंकर के पास निवेदन के लिये पहुँच जाते हैं।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujain@gmail.com, vikramadityashodhpeth@gmail.com